



ISSN: 2456-4419

Impact Factor: (RJIF): 5.18

Yoga 2018; 3(1): 644-646

© 2018 Yoga

www.theyogicjournal.com

Received: 12-11-2017

Accepted: 13-12-2017

डॉ० सुशीला कुमारी

संस्कृत विभाग

महिला महाविद्यालय

झोझूकलां, हरियाणा, भारत

पातंजल योगदर्शन की सांस्कृतिक देन

डॉ० सुशीला कुमारी

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति का जो आद्य बीज हमें वैदिक मन्त्रों¹ में प्राप्त होता है, उस विश्ववरेण्य सांस्कृतिक धारा का विकसित रूप उपनिषद्कालीन ऋषियों के दीक्षान्त अभिभाषण में दर्शनीय है, जहाँ 'सत्यं वदः', 'धर्मं चरः'² इत्यादि नीति-वाक्यों का उपदेश देकर अपने शिष्य को गुरुगृह से विदा करते हुए ऋषि पुनः शिक्षित करते हैं कि – 'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि'³

मानव संस्कृति का यह अपूर्व सूत्र आजीवन तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान⁴ में निरत ऋषियों की जिस लोकोत्तर सहिष्णुता और आचरण की पवित्रता का साक्षी है, वह स्वयं में संस्कृति का पर्याय है। आर्षदृष्टि में यही वह संस्कृति है, जो रूढ़ियों से दूर और अहम्मन्यता से परे है। 'सत्य' और 'धर्म' शाश्वत संस्कृति के दो प्राणतत्त्व हैं। 'सत्य' शब्द यहाँ सत्य ज्ञान⁵ का परिचालक है और उस ज्ञान का आचरण, 'धर्म'⁶ पद का वाच्य है। जिस संस्कृति के लिए 'यजुर्वेद' ने 'विश्ववारा' शब्द का प्रयोग किया है, वह आचरणमय है, जो जीवन को परिष्कृत करती है, हृदय को उदात्त बनाती है।

संस्कृति एक ओर जहाँ लोकजीवन के आचरण से अनुप्राणित होती है, वहीं वह लिपिबद्ध होकर 'साहित्य' का रूप धारण कर लोकशिक्षण का माध्यम बनती है और आचरण की अक्षुण्ण प्रेरणा को पीढ़ियों तक सुरक्षित रखती है। सुदीर्घ काल से भारतीय संस्कृति की अति प्राचीन विरासत को हम तक पहुँचाने वाले अन्य सभी साधनों में 'साहित्य' का अप्रतिम योगदान है। साहित्यकार अपने युग की संस्कृति को, तत्कालीन मानवीय मूल्यों को, आचरण के आदर्श को अपने साहित्य में परवर्तित करता है। 'साहित्य' में मानव-जीवन के उन समस्त तत्त्वों का प्रतिबिम्ब होता है, जिसकी परिणति धर्म, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, कलाओं आदि के रूप में समाज तथा उसके व्यवहार में दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य ने जब से अपने विचारों को वाणी दी, अपनी भावनाओं, अनुभूतियों और चिन्तनधाराओं को भाषा में अभिव्यक्त करना सीखा, उसी काल से श्रुतियों के माध्यम से स्मृतियों में संरक्षित होता हुआ कण्ठस्थ मौखिक ज्ञान शनैः-शनैः लिपिबद्ध होकर मानवीय प्रेरणा का स्रोत बना है। आज जो सांस्कृतिक विरासत भारत की विपुल साहित्य-सम्पदा में हमारे पास सुरक्षित है, उसमें 'पातंजल योगदर्शन' की देन अविस्मरणीय है। समग्र जीवन-दृष्टि और सांस्कृतिक उदात्तता के बोध ने इस ग्रन्थ को वैश्विक स्तर पर वरेण्य बना दिया है। यह सिद्धान्त ही नहीं वरन् आचरण का ग्रन्थ है। इसमें 'योग' की जो निरुक्तियाँ हुई हैं, उनसे सांस्कृतिक मूल्यों की व्याख्या स्वतः स्पष्ट हो जाती है। 'अथ योगानुशासनम्'⁷ के अनन्तर योग का जो प्रथम सूत्र महर्षि पतंजलि ने उल्लिखित किया है 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'⁸ उससे मानव-संस्कृति की रूपरेखा स्वतः निर्मित हो जाती है।

संस्कृति का सम्बन्ध मन से है। सभी ऋषियों, दार्शनिकों तथा मनोवैज्ञानिकों ने मन की संकल्प-शक्ति को सृष्टि का मूल प्रेरक तत्त्व स्वीकार किया है।⁹ मनुष्य का मन उसके समस्त अनुभवों, विशिष्ट व्यवहारों, प्रवृत्तियों एवं संवेगों का कारक है। 'योगदर्शन' में उन्हीं मानसिक वृत्तियों, दशाओं एवं क्रियाओं का सुव्यवस्थित अध्ययन है। 'योग' वह अन्तस्साधना है, जिसमें मन को साधने की प्रक्रिया प्रमुख रूप से विद्यमान है, जो चेतना को ऊर्ध्वगामी बनाने में सहायक होती है। संस्कृति 'स्व' का परिष्कार करती है। 'योग' का मर्म भी आत्म परिष्कार है। संस्कृति सत्त्वोद्रेक से मन को निर्मल बनाती है, 'योग' सत्त्वोद्रेक की प्रक्रिया को दर्शाता है।¹⁰ इस प्रकार संस्कृति का सम्बन्ध सतत उत्कर्ष से है, जो 'ऋतम्भरा प्रज्ञा'¹¹ के रूप में प्रतिफलित होता है।

संस्कृति संस्कारों से बनती है। मनोवैज्ञानिक अर्थ में संस्कार का तात्पर्य है, चित्त पर अंकित अनुभव-जन्य प्रत्यय। ये संस्कार मानव के आचरण को अनुशासित करते हैं, विभिन्न मनः स्थितियों और मनोभूमियों¹² को जन्म देते हैं। मन की स्थितियों पर नियन्त्रण अथवा मानसिक दुरवस्थाओं का नियमन ही चित्त में शान्ति उत्पन्न कर सकता है। अत एव, भारतीय मनीषा मनोजय के उपाय सुझाती है। व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नयन इसी से सम्भव है।

Correspondence

डॉ० सुशीला कुमारी

संस्कृत विभाग

महिला महाविद्यालय

झोझूकलां, हरियाणा, भारत

‘योगदर्शन’ न केवल व्यक्तिगत संवेगों, संवेदनाओं एवं समाज के साथ उनके तारतम्य पर विचार करता है, प्रत्युत उसके नियमन का मार्ग बताकर¹³ चित्त को प्रशान्तवाही बनाता है।¹⁴ ‘योगदर्शन’ की साधना का केन्द्र-बिन्दु चित्त है। चित्त जहाँ शरीर में अधिष्ठित है, वहीं आत्मा से भी इसका सम्बन्ध है। यही हमें भौतिक जगत् से जोड़ने के साथ ही साथ अन्तर्जगत् से और अन्ततः ‘स्व’ से अर्थात् आत्मा से भी इसका सम्बन्ध करवाता है। ‘योग’ चित्त को पवित्र और एकाग्र बनाकर मनुष्य में निहित असीम क्षमताओं से संवर्द्धन और उन्नयन का मार्ग दर्शाता है,¹⁵ जिसका तात्त्विक लक्ष्य आनन्दमय प्रज्ञा को प्राप्त करना है। साक्षात् अनुभूत सत्य को धारण करने वाली इस प्रज्ञा से चित्त का आत्माध्यास छूट जाता है और योगी को चित्त से पृथक् आत्मस्वरूप का साक्षात्कार होता है।¹⁶ चित्त की पवित्रता और एकाग्रता सांस्कृतिक उन्नयन का मूल है। यही नहीं, वरन् भौतिक और आध्यात्मिक वैभव भी चेतना के उत्कर्ष के अधीन है। अतः मानव की अन्तः शक्तियों को विकसित करना ‘योग’ का प्रथम और अन्तिम ध्येय है।

मनोवृत्तियाँ मुख्य रूप से दो हैं— राग और द्वेष¹⁷। इन्हीं से प्रभावित होकर मनुष्य का स्वभाव निर्धारित होता है। मनुष्य के मनोविकारों के मूल में भी यही दो वृत्तियाँ हैं। इन्हीं से धर्म और अधर्म में प्रवृत्ति होती है। योग का निष्काम कर्म¹⁸ अधर्म में प्रवृत्ति से मनुष्य की रक्षा करता है। राग और द्वेष के कारण चित्त का जो आन्तरिक सन्तुलन बिगड़ गया है, उस सन्तुलन को स्थापित करना ‘योग’ का मूल उद्देश्य है। यही ‘गीता’ का ‘समत्व योग’ है।¹⁹ ‘योगदर्शन’ का लक्ष्य नैतिक दृष्टि से उपासक के व्यवहार को अनुशासित करना तथा निष्काम कर्म के द्वारा लोकहित में उपासक की भूमिका सुनिश्चित करना है। चित्त को मलिन करने वाले क्लेशों, कर्मों, कर्मफलों, और कर्मों की वासना से चित्त को सर्वथा असम्पृक्त और निर्मल बनाना योग-साधना का परम प्रयोजन है।²⁰ ‘पातंजल योग’ में जिन पंचक्लेशों का वर्णन मिलता है, उनमें अविद्या को प्रथम स्थान दिया गया है।²¹ निश्चय ही ‘अविद्या’ सर्व अनर्थों का मूल है। योगियों के अनुष्ठान से चित्त की अशुद्धि का क्षय होने पर ज्ञान की दीप्ति विवेकख्याति-पर्यन्त बढ़ती है।²²

वैदिक संस्कृति के मूल में श्रद्धा की भावना का प्राधान्य रहा है।²³ श्रद्धा ज्ञानार्जन का मूल मन्त्र है, क्योंकि श्रद्धा से ही सत्य की प्राप्ति होती है।²⁴ इसलिए ‘महर्षि पंतजलि’ ने श्रद्धापूर्वक योग के अनुष्ठान पर बल दिया है।²⁵ सत्याचरण में श्रद्धा, मनुष्य को कुपथ से बचाती हुई उसकी रक्षा करती है।²⁶ सत्य को धारण करने वाली प्रज्ञा का प्राकट्य तभी सम्भव है, जब चित्त पवित्र और कालुष्य से रहित हो। इसके लिए योगाचार्य ने तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान रूप ‘क्रियायोग’²⁷ की साधनता का उल्लेख किया है। जन्म-जन्मांतर से चित्त में अविद्यादि क्लेशों के संस्कार बीज रूप में पड़े रहते हैं। ‘क्रियायोग’ के अनुष्ठान से उनका क्षय होकर मन निर्मल और एकाग्र होता है।²⁸

‘आयुर्वेद’ में मन और शरीर में घनिष्ठ सम्बन्ध बताया गया है — ‘शरीरमनुविधीयते सत्त्वं, सत्त्वं च शरीरम्’ ‘क्रियायोग’ के आचरण से शरीर, इन्द्रिय, प्राण और मन सब पवित्र और नियन्त्रण होते हैं। ‘महर्षि पंतजलि’ ने चित्त की विविध भूमियों के अनुरूप ‘योग’ के विविध स्वरूपों का वर्णन किया है।²⁹ ‘पातंजल योग’ न केवल शरीर एवं मनोगत व्याधियों और आधियों के मूल कारण का उच्छेद करता है, वरन् जीवन को आदर्शों से अनुप्राणित कर स्वस्थ एवं ऊर्जस्वित चेतना के निर्माण में सहायता प्रदान करता है। ‘योगदर्शन’ में साधक को सार्वभौम सदाचरण के अनुपालन की शिक्षा दी गई है। यम, नियमादि ‘अष्टांगयोग’³⁰ का पालन करता हुआ मनुष्य अपने चरित्र का विकास कर उसे महान् बनाता है और अपने जीवन को बाहर-भीतर से अनुशासित करता है।

चित्त को विक्षिप्त करने में सामाजिक परिवेश की भूमिका प्रमुख होती है। जीवन के इस व्यावहारिक तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए चित्त के प्रसाद हेतु योग-ऋषि ने मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा नाम उपायों की व्यवस्था दी है।³¹ ‘योग’ के इन विविध प्रयोगों से

जीवन शनैः—शनैः रूपान्तरित होने लगता है। जीवन की आकृति तो वही रहती है, परन्तु प्रकृति पूर्णतः बदल जाती है। यह बदलाव बाह्य और आभ्यन्तर-दोनों तलों पर होता है। इससे न केवल व्यक्ति का व्यवहार बदलता है, उसकी आन्तरिक स्थिति भी बदल जाती है। अन्तःकरण में ऐसी अवस्था आती है, जहाँ द्वन्द्व, अस्थिरता एवं भावनात्मक विक्षोभ का कोई स्थान नहीं रहता।³² इस प्रकार चेतना के परिष्कार और विकास का नाम ही योग है। ‘योग’ अन्तर्जगत् का विज्ञान है, जो इसे अपने जीवन में क्रियान्वित करते हैं, वे अनुभव कर पाते हैं कि परमात्म-प्रकाश की अवतरित होती धाराएँ उन्हें रूपान्तरित कर रही हैं। चित्त का प्रशान्तवाही होना आन्तरिक रूपान्तरण की शुरुआत है। यह इस बात का संकेत है कि दूषित संस्कारों की कालिमा धुलने लगी है। जो कर्म-संस्कार साधना के शिखर की ओर अग्रसर होने में बाधक थे, वे क्षीण होने लगे हैं।³³ चित्त के समाधि-परिणाम³⁴ पर विचार करते हुए ऋषि कहते हैं कि जब चित्त की अशान्तवृत्तियों (सर्वार्थता) का क्षय और एकाग्रवृत्ति का उदय होने लगता है, तब समझना चाहिए कि आन्तरिक विकास की ओर बढ़ रहे हैं। समाधि-परिणाम में चित्त, चेतना और चिन्तन को एक दिशा मिल जाती है। चेतना का प्रवाह एक ही दिशा में होने लगता है। फिर कोई दूसरा विचार शान्ति भंग नहीं कर पाता है। जहाँ विचार है ही नहीं वहाँ तो निर्विचार समाधि है। यहाँ निर्विचार से तात्पर्य यह नहीं है कि विचार करने की क्षमता शेष नहीं रही, वरन् पहली बार सही अर्थों में विचार करने का सामर्थ्य का आविर्भाव हुआ है। तब साधक सम्पूर्ण विराट् अस्तित्व का एक अभिन्न अंग बन जाता है। इन क्षणों में जो विचार उपजते हैं, वे सर्वथा मौलिक होते हैं। इनके प्रभाव से सम्पूर्ण जीवन मौलिक व सार्थक बन जाता है। जहाँ भी ऐसा हो रहा है, समझना चाहिए कि महर्षि पंतजलि का समाधि-परिणाम वास्तव में घटित हो रहा है।

‘योग’ का ईश्वर-प्रणिधान³⁵ वह निर्भ्रान्त दृष्टि प्रदान करता है, जिसके प्रकाश में अहंकार और आडम्बर से पृथक् हुआ जीवात्मा स्वयं को निर्मल और निर्लिप्त अनुभव करता है। साध्य के समीप बैठा हुआ और उसकी शक्तिमत्ता से परिचित व्यक्ति स्वयं को कर्ता कहने का साहस नहीं जुटा पाता है।

वैदिक संस्कृति की पूर्णता को ‘योगदर्शन’ के आत्मविषयक प्रकरण से जाना जा सकता है। मनुष्य की अपूर्णता और उसके सुख-दुख का मूल कारण ‘स्व’ से पृथक् चित्त आदि अनात्म पदार्थों को आत्मा जानना है। आत्मज्ञान के अभाव में सभी ज्ञान और उपलब्धियाँ व्यर्थ हैं। ‘महर्षि पंतजलि’ ने चित्तवृत्तियों के निरोध का फल आत्मस्वरूप में अवस्थिति बताया है।³⁶ अपनी आत्मा को, अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान कर मनुष्य पूर्णता की ओर सहज ही अग्रसर हो जाता है। यही जीवन का एकमात्र ध्येय है।

ईश्वर के स्वरूप का निरूपण करते हुए ‘योगसूत्र’ में वर्णित है कि क्लेश, कर्म, कर्मफल और उनकी वासनाओं से जो तीनों कालों में लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है, वह पुरुष विशेष ईश्वर कहलाता है।³⁷ योग के आचरण से क्लेशों और कर्मों से निवृत्ति सम्भव है।³⁸ इसलिए ‘योगदर्शन’ का मन्तव्य है कि जैसा ईश्वर है, वैसे ही हम बनें। मैत्रायणी संहिता का भी प्रायः यही अभिप्राय है कि मनुष्य में सब देवता निवास करते हैं।³⁹

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ‘योग’ का आदर्श महान् है। मानव का सर्वांगीण अभ्युदय उसका लक्ष्य है। सामाजिक आचरण के अनुशासन हेतु मैत्री, करुणादि उपायों का वर्णन है, जिनसे इस लोक आसुरी जीवों के मध्य रहते हुए भी अपने चित्त की शान्ति को विच्छिन्न होने से बचाया जा सकता है। सृष्टि में दो प्रकार की मानव-संस्कृतियाँ हैं—दैवी और आसुरी।⁴⁰ ‘योगदर्शन’ आसुरी सम्पदा के निवारण और दैवी-सम्पदा⁴¹ के जागरण का मार्ग प्रशस्त करता है। ज्ञान केवल बौद्धिक रूप में प्राप्त करने के लिए नहीं है, अपितु सत्य और धर्म के पथ पर चलकर आत्मा के साथ सारूप्य-प्रतिष्ठा में इसकी सार्थकता है। ‘योग’ व्यष्टि में जिस सांस्कृतिक चेतना का विकास करता है, वह समष्टि में समाविष्ट हो

राष्ट्रिय चेतना की विस्तारक बनती है। व्यष्टि का विकास ही समष्टि के विकास का मूल है। 'योग' के अनुसार जीवन सोद्देश्य है और उसको प्राप्त करना जीवन का चरम लक्ष्य है। आध्यात्मिकता का जो सर्वोच्च भाव यहाँ दर्शनीय है, वह 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' की भावना चरितार्थ करने में परम सहायक है।

तथापि, खेद का विषय है कि ऋषियों द्वारा प्राप्त हमारी गौरवशाली संस्कृति का सतत् अवमूल्यन हो रहा है। इसकी स्पष्ट छाप आज के समाज और साहित्य में देखी जा सकती है। अब तक जितने भी 'बुकर' पुरस्कार घोषित हुए हैं, वह प्रायः अंग्रेजी साहित्य के लेखकों को ही प्राप्त हो रहे हैं। जो इस बात का प्रमाण है कि पाश्चात्य भाषा और संस्कृति का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। राजनीति का सिद्धान्त है कि किसी समाज पर शासन करना हो, तो उस समाज को उसकी भाषा और संस्कृति से दूर कर दीजिए। आज हमारी अपनी भाषा और संस्कृति का लोप होता जा रहा है। विद्वत्ता का प्रमाण विदेशी भाषा और विदेशी संस्कृति बन पड़ी है। जिससे मानवीय मूल्यों का, दैवी-संस्कृति का निरन्तर ह्रास हो रहा है। आज मानवता जिन अत्याचारों से आक्रान्त है, उनके मूल का निदान भारतीय संस्कृति में ही खोजा जा सकता है। अतः भारत की प्राचीन संस्कृति के उन सूत्रों को अपनाने की आवश्यकता है, जिनमें जन्म के पूर्व से ही संस्कारों की भावभूमि का निर्माण सुनिश्चित हो जाता है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. यजुर्वेद 7,14 सा प्रथमा संस्कृतिविश्ववारा...।
2. तैत्तिरीयो 1,11
3. योगसूत्र 2,1
4. योगसूत्र 1, 48 ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।
5. तैत्तिरीयो 1,11 धर्म चर्
6. योगसूत्र 1,1
7. योगसूत्र 1,2
8. यजुर्वेद 34, ,3 यस्मात् ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः....।
9. योगसूत्र 1.47 निर्विचार वैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।
10. योगसूत्र 1.48 ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।
11. व्यासभाष्य योगसूत्र 1.1 क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः।
12. योगसूत्र 1.2 योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।
13. योगसूत्र 3.10 तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।
14. दृष्टव्य योगसूत्रविभूतिपाद
15. योगसूत्र 1.29 ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।
16. वैशेषी सू 6.2.15 इच्छोद्देशपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः।
17. योगसूत्र 4.7 कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनः.....।
18. भगवद्गीता 2.48.50
19. योगसूत्र 4.31 तदा सर्वावरणमलापेतस्य.....।
20. योगसूत्र 2.3 अविद्यास्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।
21. योगसूत्र 2.28 योगांगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।
22. ऋग्वेद 10.151.1
23. यजुर्वेद 19.30..... श्रद्धया सत्यमाप्यते।
24. योगसूत्र 1.14 स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।
25. योगसूत्र 1.20 श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वकमितरेषाम्।
26. योगसूत्र 2.1 तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।
27. योगसूत्र 2.2 समाधि भावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।
28. योगसूत्र 1.23, 1.33 से 39,2,1,229 आदि।
29. योगसूत्र 1, 23,1,33 से 39 , 2,1,2,29 आदि।
30. योगसूत्र 2. 29
- यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि।
31. द्रष्टव्य स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षण भगवद्गीता 2. 54-58
32. योगसूत्र 2.52 ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।

33. योगसूत्र 3. 11 सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयोचित्तस्य समाधिपरिणामः।
34. योगसूत्र 1.44,1.47
35. योगसूत्र 1.23 ईश्वरप्रणिधानाद्वा।
36. योगसूत्र 1.3 तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।
37. योगसूत्र 1.24 क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः।
38. योगसूत्र 4.30 ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः।
39. मैत्रायणी संहिता 3.2 विश्वे हीदं देवा समो यमनुष्यः।
40. भगवद्गीता 16.6 द्वौ भूतसर्गो लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
41. भगवद्गीता 16.5 दैवी सम्पद्धिमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।